

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कथा—साहित्य में किसानों की समस्याओं का मूल्यांकन

पंकज यादव ,

शोधछात्र—हिन्दी एवं अन्य भारतीय भाषा विभाग,
डॉ० शकुन्तला मिश्रा राष्ट्रीयपुनर्वास विश्वविद्यालय, लखनऊ

स्वतन्त्रता के बाद की परिवर्तित इन्हीं परिस्थितियों और उसके प्रभाव तथा उससे उत्पन्न किसान की समस्याओं का अध्ययन स्वतन्त्र्योत्तर हिन्दी कथा—साहित्य के माध्यम से किया जाएगा। एक प्रश्न के जवाब में डॉ० विवेकी राय जी ने कहा था कि— “स्वातंत्र्योत्तर प्रथम दशक वाले कथा—साहित्य में तो ग्राम कथा को ही हिन्दी कथा साहित्य का सम्मान मिला था और शिवप्रसाद सिंह, नागार्जुन, फणीश्वरनाथ रेणु, रामदरश मिश्र, विवेकी राय, श्रीलाल शुक्ल, अमरकान्त, भैरव प्रसाद गुप्त, शैलेश मटियानी और पातूखोलिया आदि एक लम्बी कतार ग्राम कथा पर लिखने वालों की थी। तब सरकार का ध्यान गाँवों की ओर था। विकास योजनाएँ असली रूप में ग्रामोन्मुख थीं। पर उसके बाद नगर बोध, इण्डियाबोध, आधुनिकता बोध आदि की चकाचौंध बढ़ती गयी। विकास के अमानवीकरण चमक के साथ गाँव की उपेक्षा बढ़ती गयी और नगर के सुविधा से युक्त परिवेश में बैठकर लिखा जाने वाला गाँव से जुड़ा साहित्य फैशनेबुल ज्यादा होने लगा।”¹

किसानों की समस्याओं को अपने साहित्य के माध्यम से मजबूती प्रदान करने वाले महान साहित्यकार नागार्जुन के रचना संसार में किसान सिर्फ वही नहीं है, जिनका मुख्य व्यवसाय खेती है। नागार्जुन के लिए गाँव के मछुवारे वरुण के बेटे से लेकर प्राइमरी स्कूल के मास्टर दुखरन झा तक सभी किसान ही हैं। “यानी नागार्जुन की किसान कोटि ग्रामीण परिवेश की उत्पादकता की सभी शक्तियों को अपने में समाहित कर लेती है

जिसमें छोटे किसान, खेत मजदूर और छोटे—मोटे पेशों वाले लोग शामिल हैं। किसान चेतना अपने आप में एक नकारात्मक शब्द है। चूँकि किसान अपेक्षाकृत स्थिर या कम गतिशील परिवेश में रहता है और पुराने किस्म के औजारों से खेती करता है, इसलिए ऐसा मान लिया जाता है कि उसकी चेतना भी पुराने किस्म की होगी।”²

आजादी के तुरन्त बाद के उपन्यासकारों के सामने भी गाँव का लगभग यही रूप था। इस दशक में लिखित भैरव प्रसाद गुप्त, नागार्जुन, देवेन्द्र सत्यार्थी, फणीश्वरनाथ रेणु आदि के उपन्यासों में ग्रामीणों की दयनीय जीवन स्थिति—जमींदारों और भूमिपतियों द्वारा उनके शोषण, निर्धनता, अशिक्षा, अंधविश्वास, जातीय और पारिवारिक कलह, पुलिस के अत्याचार, स्त्रियों की दुर्दशा आदि का प्रामाणिक अंकन किया गया है। यों तो ‘रतिनाथ की चाची’ (1948) से ही नागार्जुन जमींदारों द्वारा किसानों की बेदखली, जमींदारों के विरुद्ध किसानों के संघर्ष आदि का चित्रण आरम्भ कर देते हैं; पर यहाँ उस सम्भावना का संकेत मात्र मिलता है जो बलचनमा (1952), बाबा बटेश्वरनाथ (1954) और वरुण के बेटे आदि में अपने वास्तविक रूप में सामने आती है। “बलचनमा में मिथिलांचल के ग्रामीण जीवन का कटु और नग्न यथार्थ अपनी सम्पूर्ण प्रखरता में चित्रित हुआ है। बलचनमा, सम्पूर्ण निम्न वर्ग का प्रतीक है।”³

‘बाबा बटेश्वरनाथ’ उपन्यास में ‘हिजरी सन् 1280’ के अकाल की उन्होंने बहुत विस्तार से चर्चा की है और बताया है कि इसका सीधा

असर किस तरह गरीब के पेट पर पड़ता है; “पाँच जने अगर खाने वाले हुआ करते तो ईंट का एक सेर पिसान दो सेर उबली-पत्तियों में मिलाया जाता, कहीं यह पिसान पत्तियों में एक चौथाई भर डाला जाता। आम की गुठलियों का पिसान भी इसी तरह बरता जाता।”⁴ दूब और पेड़ों की छाल तक का इस्तेमाल हुआ भूख से लड़ने के लिए। इससे काम नहीं चला और बहुत से किसान अकाल की भेंट चढ़ गये।⁵

किसानों के सशक्त प्रतिरोध का बड़ा दिलचस्प नमूना ‘वरुण के बेटे’ उपन्यास में दिखाई देता है। यह लड़ाई वस्तुतः मछुओं की है जिन्हें नागार्जुन किसानों से अलग नहीं मानते। जमींदारी उन्मूलन से बौखलाये देपुरा के जमींदारों ने गैर कानूनी ढंग से जब ‘गढ़पोखर’ को सतधरा वालों को बेच दिया तो इस फ़ैसले का मछुओं ने जबरदस्त विरोध किया। गढ़पोखर के जल से मछुओं का रिश्ता भावनात्मक है जिसे गोनड़ (एक बूढ़ा मछुआ) इस प्रकार व्यक्त करता है— “यह पानी सदा से हमारा रहा है, किसी भी हाल में इसे छोड़ नहीं सकते। पानी और माटी न कभी बिकी है न बिकेंगे। गरोखर (गढ़पोखर) का पानी मामूली पानी नहीं है। वह तो हमारे शरीर का लहू है। जिनगी का निचोड़ है।”⁶

रेणु को गाँव के इस गलीजपन का पता है और इसीलिए वह जिस नायक को मेरीगंज में लाते हैं वह जातिहीन है..... रेणु किसान जीवन के किसी एक आयाम को नहीं दर्शाते। बहुआयामी किसान जीवन है, उनके यहाँ उनकी कहानियों व अन्य उपन्यासों में किसान जीवन के जो परिदृश्य उभरे हैं; वो विविध रंगों से भरे हैं। इसीलिए उनके बीच से एक अन्तर्विरोध भी उझकता दिखता है। आप निश्चित तौर पर यह बतला नहीं सकते कि यह बलदेव के साथ खड़े हैं या कि कालीचरन के साथ; बावनदास से लेकर चलित्तर कर्मकार तक उनके यहाँ हैं। लुत्तों हैं, तो जित्तन भी और फिर हीरामन और मृदंगिया भी, उन्हें पता

था कोई औद्योगिक क्रांति फिलहाल नहीं होने वाली है और कृषि अर्थव्यवस्था के साथ सामाजिक न्याय और लोकतंत्र का सम्बंध जोड़ना होगा। यदि यह नहीं हुआ तो भारत में कृषक समाज और कृषि आधारित अर्थव्यवस्था का, चाहे जो हथ्र हो, लोकतंत्र का भविष्य भी सुरक्षित नहीं रह सकेगा।

“धरती धन न अपना” उपन्यास दो गाँवों की कहानी है। जिस तरह प्रेमचंद के उपन्यास ‘गोदान’ को रंगभूमि उपन्यास से ज्यादा ख्याति मिली उसी तरह जगदीशचंद्र के उपन्यास ‘धरती धन न अपना’ उपन्यास को ‘मुट्ठी भर काँकर’ उपन्यास से ज्यादा ख्याति प्राप्त हुई है। ‘मुट्ठी भर काँकर’ उपन्यास में नगर विस्तार पा रहे हैं, कालोनियों के विस्तार और विकास के लिए किसानों से उपजाऊ जमीन कौड़ियों के भाव खरीदी जा रही है, दलाल वर्ग खूब धन कमाने की जुगाड़ में हैं।⁷ जगदीशचंद्र ‘मुट्ठी भर काँकर’ (1982) उपन्यास के जरिए लगभग तीन दशक बाद तक की किसान से साम,दाम, दण्ड, भेद की नीतियाँ अपनाकर जमीन हड़पने, उच्च वर्ग की संप्रभुता और बाजारवादी विस्तारवाद को अंकित कर रहे हैं। ‘कभी न छोड़ें खेत’ (1976) उपन्यास भी ग्रामीण यथार्थ का उपन्यास है। किसानों के नहीं झुकने वाले रुख ने कई बार आपस में लम्बी लड़ाइयाँ छेड़ी हैं और अपनी जीवन स्थितियों को मुश्किल बनाया है। ‘घास गोदाम’ में शरणार्थी की समस्या तथा विस्थापन को जोड़कर गहरा किया गया है।

एक ग्रामकथाकार के रूप में विवेकी राय जी की मूल चिंता स्वातंत्र्योत्तर भारतीय ग्रामजीवन के नैतिक, सांस्कृतिक ह्रास के साथ ही उसकी आत्मा के पुराविष्कार हैं। विवेकी राय एक ऐसे व्यक्तित्व का नाम है जिसको गाँव की गहरी समझ तो है ही, गाँव के प्रति उसके मन में अटूट लगाव भी है। उनके ग्राम एवं किसान जीवन के चित्रण के लिए चर्चित उपन्यास है— ‘सोना माटी’,

‘बबूल’, ‘लोकऋण’ समरशेष और ‘नमामि ग्रामम्’ जो बदलते गाँवों को पूरी विश्वसनीयता के साथ चित्रित करते हैं।

“बबूल’ उपन्यास मजदूरों के साथ विभिन्न रूपों में होने वाले अत्याचार, अन्याय, शोषण आदि के साथ-साथ सामाजिक कुरीतियों एवं अंधविश्वासों के यथार्थ स्वरूप को प्रतिबिम्बित करने वाली एक सशक्त कृति है। विवेकी राय की उपन्यास कला का वास्तविक रूप उनके सोना माटी, ‘समरशेष है और ‘मंगल भवन’ जैसे महाकाव्यात्मक प्रभाव वाले उपन्यासों में देखे जा सकते हैं। गाँव विवेकी राय का आराध्य है और उसी के सूत्र से ‘मंगल भवन’ में उन्होंने राष्ट्र देवता की पहचान कराने का प्रयास किया है।”⁸

भारतीय ग्रामीण अर्थव्यवस्था का आधार कृषि उद्योग है। “जमींदार जो मूलतः सरकारी प्रतिनिधि समझे जाते थे आंग्ल प्रशासन द्वारा उस भूमि के स्वामी घोषित कर दिये गये जिससे वे कर वसूलते थे। अंग्रेजों की अभिरुचि कम से कम विरोध का सामना करते हुए अधिक से अधिक धन प्राप्त करने में थी।.....इससे परम्परागत ग्रामीण अर्थव्यवस्था विघटित हुई तथा भूमि पर पराश्रयी हितों का विकास हुआ.....।”⁹ इस विवेचन से लक्षित होता है कि आजादी के बाद के हिन्दी उपन्यासों में भारतीय ग्रामीण जीवन का अंकन उसके अनेक आयामों के साथ हुआ है। इस सन्दर्भ में जो विशेष बात सामने आई है वह यह है कि गाँव का दलित और स्त्री वर्ग अपने अधिकारों की लड़ाई में आगे बढ़ रहे हैं, लेकिन किसानों की स्थिति में कोई विशेष बदलाव आजादी के बाद नहीं आया, उनके शोषण का तरीका भर बदल गया है। आज भी ग्रामीण क्षेत्रों तक बिजली, सड़क, शिक्षा और स्वास्थ्य सेवाओं की उतनी पहुँच नहीं है।

गाँव के जीवन की नाभि-नाल भूमि-व्यवस्था से जुड़ी हुई है। एक के बगैर दूसरे के अस्तित्व की कल्पना भी नहीं की जा सकती।

कई उपन्यासकारों के यहाँ तो भूमि समूची चेतना का केन्द्र बनी हुई है। उसी को लेकर मुख्य पात्रों का सृजन और वाचन हुआ है। इसी तरह ‘अलग-अलग बैतरणी’ में जमींदारी उन्मूलन के बाद गाँव की पतनशीलता का व्यापक चित्र देखने को मिलता है। श्रीलाल शुक्ल ने तो ‘राग-दरबारी’ में गाँव को व्यंग्य और विद्रूप का ऐसा केन्द्र बनाया है, जहाँ आजादी के बाद सिर्फ लूट-खसोट और बेईमानी ही शेष रह गयी है। रोशनी की कोई तलाश वहाँ नहीं है।”¹⁰ कुल मिलाकर रेणु के उपन्यास ‘परती-परिकथा’ का नायक जितेन सम्पूर्ण ग्राम कथानकों में अकेला ऐसा चरित्र है जो जमींदारी उन्मूलन के बाद देश में आयी नयी भूमि-व्यवस्था का स्वागत करता है और लोगों में खेती-बारी ही नहीं रूढ़ परम्पराओं और अंधविश्वासों के विरुद्ध नयी वैज्ञानिक सोच की बाते करता है, और लोगों को समझाता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वातन्त्र्योत्तर काल के शुरुआती दशकों वाले कथा-साहित्य में तो गाँव और किसानों को केन्द्र में रखा गया तथा मुख्य दिशा गाँव की ओर थी लेकिन बाद के नागरिक जीवन में आये बदलावों पूँजीवादी विकास ने लेखकों को चकाचौंध कर दिया। विकास के अमानवीकरण की चमक के साथ गाँव और किसानों की उपेक्षा बढ़ती गयी और नगर की सुविधा से युक्त परिवेश में बैठकर लिखा जाने वाला गाँव से जुड़ा साहित्य फैशनेबुल ज्यादा होने लगा। इस बीच कुछ ऐसे कथाकार भी रहे जो गाँव एवं किसानों के जीवन संघर्ष, शोषण एवं विभिन्न तरह के बदलावों को अपने कथा-साहित्य में यथार्थ रूप में प्रस्तुत करते रहे हैं, कर रहे हैं। मगर ऐसे लोगों की संख्या उत्तरोत्तर कम होती जा रही है। यह चिंता का विषय है।

स्वतन्त्र्योत्तर हिन्दी कहानी ने भारतीय जीवन के विविध आयामों को उद्घाटित किया। ‘एक ओर जहाँ हिन्दी में कहानियों और कहानीकारों की भारी बाढ़ आई, ‘नयी कहानी’ ने

अपना मर्यादित स्थान बना लिया और आधुनिक साहित्य की केन्द्रीय विधा के रूप में चर्चित होने लगी। दूसरी ओर अब ग्राम जीवन अथवा भारतीय किसान जीवन को उकेरने वालों की तलाश करने पर निराश होना पड़ता है। शिवप्रसाद सिंह, मार्कण्डेय, शेखर जोशी, अमरकांत, रेणु, शैलेष मटियानी, पानू खोलिया, भैरव प्रसाद गुप्त, राजेन्द्र अवस्थी, रांगेय राघव, रामदरश मिश्र और केशव चंद्र मिश्र आदि नये पुराने सशक्त हस्ताक्षर नये क्षितिज पर उगे अवश्य पर इनमें से कुछ को छोड़कर शेष कभी-कभी ही गाँवों की ओर जाने वाले लगते हैं। कुछ लोग बहुत दूर जाकर और गहरी लीक बनाकर भी नगर-बोध के गहरे आकर्षण में खिंच आये।¹¹

ग्राम कथा कोई आकस्मिक वस्तु नहीं है और न यह अस्थायी कथा प्रवृत्ति है। आजादी के बाद गाँवों में धीरे-धीरे परिवर्तन हुए। स्वातन्त्र्योत्तर कथाकारों ने गाँवों में घटित होने वाले परिवर्तनों को सूक्ष्म दृष्टि से परखा और अपनी कहानियों में चित्रित किया। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् परिवर्तन केवल शहरों में ही नहीं हुए, गाँवों में भी हुए। पंचवर्षीय योजनाओं, जमींदारी उन्मूलन, विज्ञान की प्रगति, लघु कुटीर, उद्योगों, औद्योगिक विकास, सिंचाई सम्बन्धी साधनों, यातायात सम्बन्धी सुविधाओं, गाँव से लेकर देश तक होने वाले चुनावों तथा युद्ध की विभीषिकाओं का प्रभाव गाँवों एवं किसानों पर पड़ा। शहरों की तरह गाँव भी राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों से आक्रांत है।¹²

बदलती हुई परिस्थितियों और आयामों के कारण गाँवों में भी बहुत परिवर्तन हुए हैं— पर शहरों की अपेक्षा कम। स्वतन्त्रता के इतने लम्बे समय के बाद भी गाँव के छोटे किसान, मजदूर, सामंती व्यवस्था और राजनैतिक कुचक्र से उत्पीड़ित है। सरकारी तंत्र गाँव के निर्धनों के लिए अब भी एक अभिशाप के रूप में विद्यमान

है। आर्थिक संकट और मंदी ने आम ग्रामीण जन की कमर तोड़कर रख दी है। सम्बन्धों में स्वतन्त्रता पूर्व जैसी प्रगाढ़ता नहीं रह गयी है। सम्बन्ध दिन प्रतिदिन शिथिल होते जा रहे हैं। बेरोजगारी और आर्थिक संकट ने परिवारों को छिन्न-भिन्न कर दिया है। नये कथाकारों ने ग्रामीण एवं किसान जीवन की संवेदनाओं और यथार्थ को सहज रूप में चित्रित किया है।

ग्राम-कथा का प्रामाणिक स्वर 'सवा रूपये' (अमरकांत), 'गदल' (रांगेय राघव), 'कोयला' भई न राख' (केशवचंद्र मिश्र), 'कल्याणम' (मार्कण्डेय) 'काला कौआ' (शैलेष मटियानी), 'विघटन के क्षण' (रेणु), सूखी मछलियों की गंध' (शानी), 'चरमबिन्दु' (भैरव प्रसाद गुप्त) और 'खण्डहर की आवाज' (रामदरश मिश्र) में भी है। हिन्दी पट्टी के किसान आजादी के बाद के मोहभंग के सबसे ज्यादा शिकार हुए। इन तक सुधार और विकास पहुँच नहीं पाये। ये पंजाब के किसानों की तरह सुखी और आन्ध्र प्रदेश, बंगाल के किसानों की तरह संगठित नहीं हो पाये। भारत के किसानों को जोड़ने के आजादी के इतने सालों बाद गाँवों का यथार्थ बहुत कुछ बदल चुका है। इस बदलाव के कई सकारात्मक पक्ष हैं तो कई नकारात्मक पक्ष भी हैं। अब भी शोषण और उत्पीड़न पर आधारित गाँवों की व्यवस्था का खात्मा नहीं हुआ है। इस एक तिहाई लोगों में से ज्यादातर गाँवों में रहते हैं और इनका निर्माण स्त्रियों, दलितों और धार्मिक अल्पसंख्यकों, किसानों, मजदूरों से हुआ है। इससे यह भी साबित होता है कि इन पैसठ सालों में विकास का लाभ गाँवों, किसानों, दलितों, मजदूरों, स्त्रियों और अल्पसंख्यकों तक कम पहुँचा है। हर साल हमारे देश के ग्रामीण इलाकों को कभी सूखे और कभी बाढ़ का शिकार होना पड़ता है।

प्रसिद्ध अर्थशास्त्री असर्त्य सेन के सिद्धान्त के अनुसार "अकाल और सूखे का सम्बन्ध लोकतंत्र के अभाव को दरशाता है।"¹³

इससे हम इस बात को भी समझ सकते हैं कि जिस लोकतांत्रिक गणराज्य की स्थापना की गई है, वह लोकतंत्र भी गाँवों, किसानों, दलितों, मजदूरों और अल्पसंख्यकों तक छन-छनकर ही पहुँच पाता है। गाँव पर आज उन वर्गों का नियंत्रण है, जिनके पास जमीन और धन की ताकत है इसके बल पर वे राजनीतिक सत्ता हथियाने में कामयाब हो जाते लेकिन ऐसा कभी मुमकिन नहीं होता। आर्थिक, सामाजिक वैषम्य और निहित स्वार्थों के वर्गीय वर्चस्व के कारण गाँवों में निरंतर संघर्ष की स्थिति बनी रहती है। यह संघर्ष ही ग्रामीण यथार्थ को निरंतर बदलता रहता है और यह बदलाव ही कथा-साहित्य के लिए नए कथाकारों की सृष्टि करता है, एक ऐसे देश में जिसकी लगभग सत्तर प्रतिशत आबादी गाँवों में रहती हो और जिसकी अर्थव्यवस्था कृषि पर टिकी हो, वहाँ ग्रामीण यथार्थ में राष्ट्रीय प्रतिनिधिकता की सम्भावना का बनना स्वाभाविक है।

“हमारी ग्रामीण व्यवस्था पर आज भी जमींदार, साहूकार और भूस्वामी वर्ग का दबदबा कायम है। भूमि सुधारों का अभाव, बेगार प्रथा, खेत मजदूरों का शोषण, उनकी उपज की कम कीमत देना, आधुनिक मशीनों के इस्तेमाल द्वारा उन्हें रोजगार और व्यवसाय से वंचित करना। किसानों के कर्ज तले दबकर आत्महत्या करना। गरीब और निम्नवर्ग की स्त्रियों के साथ बलात्कार और जमींदारों और किसानों में संघर्ष हमारे ग्राम्य एवं किसान जीवन की कटु वास्तविकताएँ हैं। जब तक शोषण और उत्पीड़न की यह व्यवस्था हमारे देश में कायम है तब तक गाँव का किसान खुशहाल और शांति का जीवन कैसे बिता सकता है। हमारी ग्रामीण व्यवस्था अब भी शोषकों और उत्पीड़कों से त्रस्त है और उनके प्रति संघर्ष जारी है जो हर स्तर पर जारी रहना चाहिए।”¹⁴

प्रेमचंद का कथा-साहित्य सच्चे अर्थों में तत्कालीन समाज का अमूल्य दस्तावेज है और

आज भी अधिकांशतः उसी रूप में सार्थक व प्रासंगिक है क्योंकि स्वातंत्र्योत्तर काल का ग्रामीण समाज भी लगभग वही है। समाज की जो चिन्तायें स्वतन्त्रता पूर्व थीं आज और भी वीभत्स रूप में हमारे समक्ष प्रस्तुत हैं। हालांकि पिछले दो-ढाई दशक से समाज वहीं का वहीं नहीं है। तीव्रता से बदल रहा है। नए युग का नया अर्थशास्त्र आमूलचूल व रूपायित भी करता है। स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कथाकारों के एक वर्ग ने ग्रामीण एवं किसान जीवन की संवेदनाओं, जटिलताओं एवं समस्याओं को अपनी कथाओं में चित्रित किया तो दूसरे वर्ग ने नगरों एवं महानगरों के। बदलती हुई परिस्थितियों से कई परिवर्तन हुए हैं—स्वतन्त्रता के इतने लम्बे समय के बाद भी गाँव के छोटे, सीमांत किसान, मजदूर, सामंती व्यवस्था एवं जमींदारों और राजनैतिक कुचक्र से उत्पीड़ित है। “सरकारी तंत्र गाँव के निर्धनों के लिए अब भी एक अभिशाप के रूप में विद्यमान है।”¹⁵

आर्थिक संकट एवं मंदी के साथ महँगाई ने आम ग्रामीण तथा किसान की कमर तोड़ के रख दी है। सम्बन्धों में स्वतन्त्रता पूर्व जैसी प्रगाढ़ता नहीं रह गयी है। मानवीय मूल्यों में दिनों-दिन ह्रास हो रहा है। सम्बन्ध दिन प्रतिदिन शिथिल होते जा रहे हैं। बेरोजगारी और आर्थिक संकट ने परिवारों को छिन्न-भिन्न कर दिया है। नये कथाकारों ने भी स्वतंत्रता पूर्व के कथाकारों यानी प्रेमचंद की परम्परा को बनाये रखने का प्रयास करते हुए, ग्रामीण जीवन परम्परा को बनाये रखने का प्रयास करते हुए, ग्रामीण जीवन की संवेदनाओं और यथार्थ को तनावों और द्वन्द्वों को सहज रूप में चित्रित किया है। “ग्रामीण जीवन के कथाकारों ने उपेक्षित प्राणियों की संवेदनाओं, विषमताओं, पीड़ा और शोषण को अपनी कथाओं में चित्रित किया है। रामदरश मिश्र की “एक वह” कहानी इस बात का द्योतक है कि न जाने कितने भूमिहीन कृषक रोजी-रोटी ढूँढने, मजदूरी करने गाँव से शहर आते हैं। गाँवों में

जाति-संघर्ष है अवश्य लेकिन यह प्रचुरता के साथ देखने को नहीं मिलता है। गाँव में निम्न वर्ग वाले इस समय भी सवर्णों से दबे हुए हैं। आज भी पुराने जमींदारों, सामंतों, रईस ठाकुरों द्वारा दलितों और पिछड़ी जाति वालों पर अत्याचार, दमन, शोषण एवं अन्याय होता है।¹⁶

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि हिन्दी कथा साहित्य में गाँवों और किसानों के जीवन को लेकर लिखा जाने वाला साहित्य धीरे-धीरे कम होता गया, क्योंकि लेखक शहरी परिवेश में पूरी तरह बस गये। आज ज्यादातर हिन्दी लेखक नहीं जानते कि गाँव में क्या घट रहा है और किस

प्रकार घट रहा है। ऐसी स्थिति में उपरोक्त प्रेमचंद युगीन से लेकर स्वातंत्र्योत्तर काल तक के कथाकार जिनके कथा-साहित्य की चर्चा की गई है, यह बताता है कि गाँव और किसानों पर लिखा जाना कितना आवश्यक है क्योंकि आज भी गाँवों और किसानों की स्थितियों में बहुत ज्यादा परिवर्तन नहीं हुए हैं। किसान आत्महत्या कर रहा है, आज वह तबाही के कगार पर खड़ा है। इसलिए साहित्य में किसानों की त्रासदी से दूरी और भी चिंतनीय है।

सन्दर्भ

- ¹ 'कथादेश', मई-2012, सम्पादक-हरिनारायण, अतिथि सम्पादक-सुभाष चंद कुशवाहा, सहयात्रा प्रकाशन, प्रा0 लि0, दिल्ली, पृ0 16
- ² 'कथादेश', मई-2012, सम्पादक-हरिनारायण, अतिथि सम्पादक-सुभाष चंद कुशवाहा, सहयात्रा प्रकाशन, प्रा0 लि0, दिल्ली, पृ0 121
- ³ 'बलचनमा', नागार्जुन, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-2008, पृ0 43
- ⁴ 'बाबा बटेश्वरनाथ', नागार्जुन, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-2008, पृ0 66
- ⁵ अभिनव कदम-27, सम्पादक-जयप्रकाश धूमकेतु, जून-2012, नवम्बर-2012, पृ0 440
- ⁶ 'वरुण के बेटे', नागार्जुन, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-2008, पृ0 58
- ⁷ जगदीशचंद्र रचनावली, सम्पादक-विनोद शाही, खण्ड-2, पृ0 334, 1999
- ⁸ हिन्दी कथा-साहित्य में सामाजिक यथार्थ, डॉ0 गजाधर प्रसाद शर्मा, त्रिभुवन प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण-2012, पृ0 58, 59
- ⁹ रामदरश मिश्र के उपन्यास : चेतना के स्वर, डॉ0 गुंजन पी0 वैश्य, ब्राइट बुक्स, दिल्ली, प्रथम संस्करण-2012, पृ0 187
- ¹⁰ 'कथा' अंक-15, मार्च-2011, मार्कण्डेय स्मृति अंक, सम्पादक, सस्या, पृ0 228

-
- 11 हिन्दी कहानी समीक्षा और सन्दर्भ, डॉ० विवेकी राय, एकता प्रकाशन, इलाहाबाद-1999, पृ० 179
- 12 हिन्दी कहानी समीक्षा और सन्दर्भ, डॉ० विवेकी राय, एकता प्रकाशन, इलाहाबाद-1999, पृ० 180
- 13 अभिनव कदम-27, जून-नवम्बर-2012, सम्पादक-जयप्रकाश धूमकेतु, पृ० 357
- 14 प्रेमचंद का रचना संसार (पुनर्मूल्यांकन), डॉ० सुशीला गुप्ता, हिन्दुस्तानी प्रचार सभा प्रकाशन, मुम्बई, प्रथम संस्करण-पृ० 180
- 15 डॉ० राजेन्द्र कुमार-स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानी में ग्राम जीवन और संस्कृति, परिमल पब्लिकेशन्स, दिल्ली, प्रथम संस्करण-1988, पृ० 119
- 16 डॉ० राजेन्द्र कुमार-स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानी में ग्राम जीवन और संस्कृति, परिमल पब्लिकेशन्स, दिल्ली, प्रथम संस्करण-1988, पृ० 122
-

Copyright © 2017, Pankaj Yadav. This is an open access refereed article distributed under the creative common attribution license which permits unrestricted use, distribution and reproduction in any medium, provided the original work is properly cited.